ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL

130

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

सबलोग

अगस्त 2024 • ₹ 40

पर्यावरण और पारिस्थितिकी

- आदिवासियों की मुखर राजनीतिक पहचान
- फिलहाल कुछ भी नहीं बदला है
- राजनीति, साहित्य और स्वाधीनता

साहित्यिक पत्रकारिता के तीन दशक

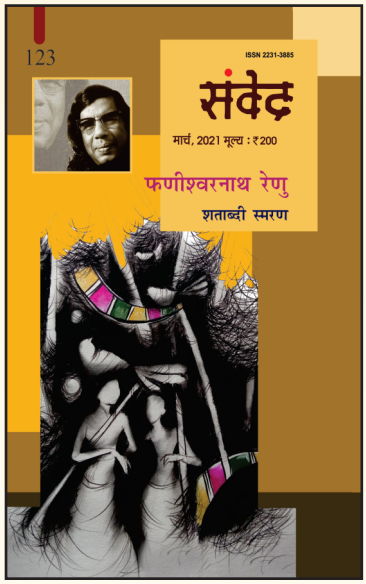

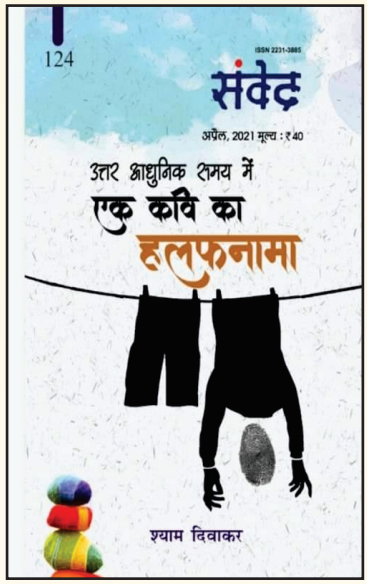

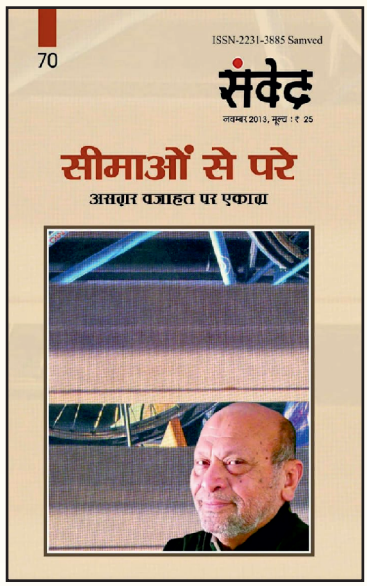

सम्पादक
किशन कालजयी

एक अंक : चालीस रुपये
विशेषांक : दो सौ रुपये
वार्षिक सदस्यता : सात सौ रुपये
एक हजार रुपये (रजिस्टर्ड डाक से)

B-3/44, Sector-16, Rohini, Delhi-110089
+91 8340436365
linkedin.com/company/samvedindia
samved.sablog.in
facebook.com/samvedmasik
samvedmonthly@gmail.com
twitter.com/samvedindiaInstagram
instagram.com/samvedindia

सबलोग-130

वर्ष 15, अंक 8, अगस्त 2024

प्रकाशन 25.07.2024

ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL

सम्पादक
किशन कालजयी

संयुक्त सम्पादक
प्रकाश देवकुलिश
राजन अग्रवाल

ब्यूरो
उत्तर प्रदेश : शिवाशंकर पाण्डेय
मध्य प्रदेश : जावेद अनीस
बिहार : कुमार कृष्णन
उत्तराखण्ड : सुप्रिया रतूड़ी
झारखण्ड : विवेक आर्यन

समीक्षा समिति (Peer Review Committee)
आनन्द कुमार
सुबोध नारायण मालाकार
मणीन्द्र नाथ ठाकुर
सफदर इमाम कादरी
मधुरेश
आनन्द प्रधान
मंजु रानी सिंह
महादेव टोप्पो
विजय कुमार
आशा
सन्तोष कुमार शुक्ल
अखलाक 'आहन'

प्रबन्ध निदेशक
अभय कुमार झा

सम्पादकीय सम्पर्क
बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,
रोहिणी, दिल्ली-110089
+ 918340436365
sablogmonthly@gmail.com, sablog.in

वेब सहायक : गुलशन कुमार चौधरी

सदस्यता शुल्क
एक अंक : 40 रुपए–वार्षिक : 450 रुपए
द्विवार्षिक : 900 रुपए–आजीवन : 5000 रुपए

सबलोग
खाता संख्या-49480200000045
बैंक ऑफ बड़ौदा,
शाखा-बादली, दिल्ली
IFSC-BARB0TRDBAD
(Fifth Character is Zero)

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिन्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक।

पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिये न्यायक्षेत्र दिल्ली।

संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन

पर्यावरण और पारिस्थितिकी

पर्यावरण : खाने का और दिखाने का और : **अनुपम मिश्र** 4
महाविनाश के विश्वव्यापी खतरे : **अनिल प्रकाश** 7
पर्यावर्णीय खतरे की भयावहता : **बसन्त हेतमसरिया** 9
तालाबों से बच सकती है खेती : **पंकज चतुर्वेदी** 12
पारिस्थितिकीय संहार का अपराधीकरण : **प्रमोद मीणा** 15
असन्तुलित विकास के अराजक नतीजे : **दिनेश कर्नाटक** 17
पर्यावरण विमर्श में नदी और पानी : **रुचि श्री** 19
नदी के पुनर्जीवन से जिन्दगी हुई आसान : **रूबी सरकार** 21
बम्ब परियोजना, समुदाय और समाज विज्ञान : **अनुकृति उपाध्याय** 23
तपती धरती के बढ़ते खतरे : **योगेश कुमार गोयल** 25
प्रकृति के साथ मनुष्य का दुर्व्यवहार : **संजय राय** 27
आग से जूझते जंगल : **कुलभूषण उपमन्यु** 29

सृजनलोक

तीन कविताएँ : **कौशल किशोर,** टिप्पणी : **दिविक रमेश,** रेखांकन : **प्रीतिमा वत्स** 30

राज्य

उत्तर प्रदेश / उप चुनाव बनी चुनौती : **शिवाशंकर पाण्डेय** 32
झारखण्ड / जमानत और बदलते समीकरण : **विवेक आर्यन** 34

स्तम्भ

चतुर्दिक / फिलहाल कुछ भी नहीं बदला है : **रविभूषण** 36
यत्र-तत्र / हरिशंकर परसाई : जीवन और जीवनी : **जय प्रकाश** 39
तीसरी घण्टी / रेडियो के मार्फत मंटो के नाटक : **राजेश कुमार** 42
कथित-अकथित / ईरान के नये राष्ट्रपति : नयी बोतल पुरानी शराब : **धीरंजन मालवे** 45
परती परिकथा / राजनीति, साहित्य और स्वाधीनता : **हितेन्द्र पटेल** 47
कविताघर / लिफ्ट में एक खिड़की रहती थी : **प्रियदर्शन** 50

विविध

संस्कृति / लोक-कथा की कथा : **संजीव ठाकुर** 52
मुद्दा / नये आपराधिक कानून : **कुमार कृष्णन** 55
वेब सीरिज / मैं फुलेरा हूँ : **सुनीता सृष्टि** 58
सिनेमा / कोहरे के बीच आशा की किरण : **रक्षा गीता** 61
प्रासंगिक / आदिवासियों की मुखर राजनैतिक पहचान : **अभय सागर मिंज** 63
संगोष्ठी / पर्यावरण पर सार्थक चर्चा : **मधुबाला शुक्ल** 64
पुस्तक समीक्षा / हिन्दी की वाचिक परम्परा के अक्स : **श्रीराम दवे** 65
लिये लुकाठी हाथ / हमारी ब्रेकअप गाथा : **नूपुर अशोक** 66

आवरण : **शशिकान्त सिंह**

अगला अंक : बाजार में शिक्षा

आवरण कथा

पर्यावरण : खाने का और दिखाने का और

अनुपम मिश्र

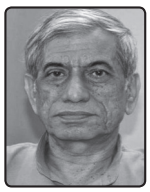

कई पुरस्कारों से सम्मानित प्रसिद्ध पर्यवारणविद् अनुपम मिश्र का जन्म 1948 में वर्धा में हुआ। वे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि भवानी प्रसाद मिश्र के बेटे थे। गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान दिल्ली में उन्होंने पर्यावरण कक्ष की स्थापना की। वह इस प्रतिष्ठान की पत्रिका 'गाँधी मार्ग' के संस्थापक सम्पादक भी थे। चण्डी प्रसाद भट्ट के साथ काम करते हुए उन्होंने उत्तराखण्ड के 'चिपको आन्दोलन' में जंगलों को बचाने के लिये सहयोग किया था। वह जल-संरक्षक राजेन्द्र सिंह की संस्था तरुण भारत संघ के लम्बे समय तक अध्यक्ष रहे। 'आज भी खरे हैं तालाब' और 'राजस्थान की रजत बूँदें' उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। उनका यह लेख किशन कालजयी द्वारा सम्पादित तथा पेंग्विन द्वारा प्रकाशित (2006) पुस्तक 'साफ माथे का समाज' में संकलित है। लगभग 25 वर्ष पहले लिखा यह लेख आज भी उतना ही प्रासंगिक है। 16 दिसम्बर 2016 को उनका देहावसान हुआ।

पाँच जून को 'पर्यावरण दिवस' मनाया जाता है। गिनती में यह कुछ भी हो, पर चरित्र में, पर्यावरण की समझ में, यह पहले समारोह से अलग नहीं होता। 1972 में सौ से अधिक देश संयुक्त राष्ट्र संघ के छाते के नीचे पर्यावरण की समस्याओं को लेकर इकट्ठे हुए थे। तब विकास और पर्यावरण में छत्तीस का रिश्ता माना गया था। सरकारें आज भी पर्यावरण और विकास में खटपट देख रहीं हैं, इसलिए प्रतिष्ठित हो चुके विकास-देवता पर सिन्दूर चढ़ाती चली जा रही हैं। लेकिन विकास के इसी सिन्दूर ने पिछले दौर में पर्यावरण की समस्याओं को पैदा किया है और साथ ही अपने चटख लाल रंग में उन्हें ढकने की भी कोशिश की है। सरकारी कैलेंडर में देखें तो पर्यावरण पर बातचीत 1972 में हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के स्टॉकहोम सम्मेलन से शुरू होती है। पश्चिम के देश चिन्तित थे कि विकास का कुल्हाड़ा उनके जंगल काट रहा है, विकास की पताकानुमा उद्योग की ऊँची चिमनियाँ, सम्पन्नता के वाहन, मोटर गाड़ियाँ आदि उनके शहरों की हवा खराब कर रही हैं, देवता सरीखे उद्योगों से निकल रहा 'चरणामृत' वास्तव में वह गन्दा और जहरीला पानी है, जिसमें उनकी सुन्दर नदियाँ, नीली झीलें अन्तिम साँसें गिन रही हैं।

यह देश जिस तकनीक ने उन्हें यह दर्द दिया था, उसी में इसकी दवा खोज रहे थे। पर तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों को लग रहा था कि पर्यावरण संरक्षण की यह नयी बहस उनके देशों के विकास पर ब्रेक लगा कर उन्हें पिछड़ा ही रहने देने की साजिश है। ब्राजील ने तब जोरदार घोषणा की थी कि हमारे यहाँ सैकड़ों साफ नदियाँ हैं, चले आओ, इनके किनारे अपने उद्योग लगाओ और उन्हें गन्दा करो। हमें पर्यावरण नहीं, विकास चाहिए। भारत ने ब्राजील की तरह बाहर का दरवाजा जरूर नहीं खोला, लेकिन पीछे के आँगन का दरवाजा धीरे से खोलकर कहा था कि गरीबी से बड़ा कोई प्रदूषण नहीं है। गरीबी से निपटने के लिए विकास चाहिए। और इस विकास से थोड़ा बहुत पर्यावरण नष्ट हो जाए तो वह लाचारी है हमारी। ब्राजील और भारत के ही तर्क के दो छोर थे और इनके बीच में थे वे सब देश जो अपनी जनसंख्या को एक ऐसे भारी दबाव की तरह देखते थे, जिसके रहते वे पर्यावरण संवर्धन के झण्डे नहीं उठा पाएँगे। इस दौर में वामपन्थियों ने भी कहा कि 'हम पर्यावरण की विलासिता नहीं ढो सकते।'

इस तरह की सारी बातचीत ने एक तरफ तो विकास की उस प्रक्रिया को और भी तेज किया जो प्राकृतिक साधनों के दोहन पर टिकी है और दूसरी तरफ गरीबों की जनसंख्या को रोकने के कठोर से कठोर तरीके ढूँढे। इस दौर में कई देशों में संजय गाँधियों का उदय हुआ, जिन्होंने पर्यावरण संवर्धन की बात आधे मन और आधी समझ से, पर परिवार नियोजन का दमन चलाया पूरी लगन से। लेकिन इस सबसे

पर्यावरण की कोई समस्या हल नहीं हुई, बल्कि उनकी सूची और लम्बी होती गयी।

पर्यावरण की समस्या को ठीक से समझने के लिए हमें समाज में प्राकृतिक साधनों के बँटवारे को, उसकी खपत को समझना होगा। सेंटर फॉर साइंस एण्ड एनवायर्नमेंट के निदेशक अनिल अग्रवाल ने इस बँटवारे का एक मोटा ढाँचा बनाया था। कोई 5 प्रतिशत आबादी प्राकृतिक साधनों के 60 प्रतिशत भाग पर कब्जा किए हुए है। 10 प्रतिशत आबादी के हाथ में कोई 25 प्रतिशत साधन हैं। फिर कोई 25 प्रतिशत लोगों के पास 10 प्रतिशत साधन हैं। लेकिन 60 प्रतिशत की फटी झोली में मुश्किल से 5 प्रतिशत प्राकृतिक साधन हैं। हालत फिर ऐसी भी होती, तो एक बात थी। लेकिन इधर 5 प्रतिशत हिस्से की आबादी लगभग थमी हुई है और साथ ही जिन 60 प्रतिशत प्राकृतिक साधनों पर आज उसका कब्जा है, वह लगातार बढ़ रहा है।

दूसरे वर्ग की आबादी में बहुत थोड़ी बढ़ोत्तरी हुई है और शायद उनके हिस्से में आए प्राकृतिक साधनों की मात्रा कुछ स्थिर-सी है। तीसरे 25 प्रतिशत की आबादी में वृद्धि हो गयी है और उनके साधन हाथ से निकल रहे हैं। इसी तरह चौथे 60 प्रतिशत वाले वर्ग की आबादी तेजी से बढ़ चली है और दूसरी तरफ उनके हाथ में बचे-खुचे साधन भी तेजी से कम हो रहे हैं।

यह चित्र केवल भारत नहीं, पूरी दुनिया का है। और इस तरह देखें तो कुछ की ज्यादा खपत वाली जीवन शैली के कारण ज्यादातर की, 80-85 प्रतिशत लोगों की जिन्दगी के सामने आया संकट समझ में आ सकता है। इस चित्र का एक और पहलू है। आबादी का तीन-चौथाई हिस्सा बस किसी तरह जिन्दा रहने की कोशिश में अपने आस-पास के बचे-खुचे पर्यावरण को बुरी तरह नोचता-सा दिखता है तो दूसरी तरफ वह 5 प्रतिशत वाला भाग पर्यावरण के ऐसे व्यापक और सघन दोहन में लगा है जिसमें भौगोलिक दूरी कोई अर्थ नहीं रखती। कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश में लगे कागज उद्योग आस-पास के जंगलों को हजम करने के बाद असम और उधर अण्डमान निकोबार के जंगलों को भी साफ करने लगे हैं। जो जितना ताकतवर है चाहे वह उद्योग हो या शहर, उतनी दूरी से किसी कमजोर का हक छीन कर अपने लिए प्राकृतिक साधन का दोहन कर रहा है। दिल्ली जमुना किनारे है, उसका पानी तो वह पिएगी ही, पर कम पड़ेगा तो दूर गंगा का पानी भी खींच लाएगी। इन्दौर पहले अपनी छोटी-सी खान नदी को अपने प्रदूषण से मार देगा और फिर दूर बह रही नर्मदा का पानी उठा लाएगा। भोपाल पहले अपने समुद्र जैसे विशाल ताल को कचराघर बना लेगा, फिर 80 किलोमीटर दूर बह रही नर्मदा से पीने के पानी का प्रबन्ध करने की योजना बना सकता है। पर नर्मदा के किनारे ही बसा जबलपुर नर्मदा के पानी से वंचित रहेगा, क्योंकि इतना पैसा नहीं है।

कुल मिलाकर प्राकृतिक साधनों की इस छीना झपटी ने, उनके दुरुपयोग ने पर्यावरण के हर अंग पर चोट की है और इस तरह सीधे उससे जुड़ी आबादी के एक बड़े भाग को और भी बुरी हालत में धकेला है। आधुनिक विज्ञान, तकनीक और विकास के नाम पर हो रही यह लूटपाट प्रकृति से (खास कर उसके ऐसे भण्डारों से, जो दोबारा नहीं भरे जा सकेंगे, जैसे कोयला, खनिज पेट्रोल आदि) पहले से कहीं ज्यादा कच्चा माल खींच कर उसे अपनी जरूरत के लिए नहीं, लालच के लिए पक्के माल में बदल रही है। विकास कच्चे माल को पक्के माल में बदलने की प्रक्रिया में जो कचरा पैदा करता है, उसे ठीक से ठिकाने भी लगाना नहीं चाहता। उसे वह ज्यों-का-त्यों प्रकृति के दरवाजे पर पटक आना जानता है। इस तरह इसने हर चीज को एक ऐसे उद्योग में बदल दिया है जो प्रकृति से ज्यादा-से-ज्यादा हड़पता है और बदले में इसे ऐसी कोई चीज नहीं देता, जिससे उसका चुकता हुआ भण्डार फिर से भरे। और देता भी है तो ऐसी रद्दी चीजें, धुआँ, गन्दा जहरीला पानी आदि कि प्रकृति में अपने को फिर सँवारने की जो कला है, उसका जो सन्तुलन है वह डगमगा जाता है। यह डगमगाती प्रकृति, बिगड़ता पर्यावरण नये-नये रूपों में सामने आ रहा है। बाढ़ नियन्त्रण की तमाम कोशिशों के बावजूद पिछले दस सालों में देश के पहले से दुगने भाग में, 2 करोड़ हेक्टेयर के बदले 4 करोड़ हेक्टेयर में बाढ़ फैल रही है। कहाँ तो देश के 33 प्रतिशत हिस्से को वन से ढकना था, कहाँ अब मुश्किल से 10 प्रतिशत वन बचा है। उद्योगों और बड़े-बड़े शहरों की गन्दगी ने देश की 14 बड़ी नदियों के पानी को प्रदूषित कर दिया है। गन्दे पानी से फैलने वाली बीमारियों, महामारियों के मामले, जिनमें सैकड़ों लोग मरते हैं कभी दबा लिए जाते हैं तो कभी इस वर्ष की तरह सामने आ जाते हैं। इसी तरह कलकत्ता जैसे शहरों की गन्दी हवा के कारण वहाँ की आबादी का एक बड़ा हिस्सा साँस, फेफड़ों की बीमारियों का शिकार हो रहा है। शहरों के बढ़ते कदमों से खेती लायक अच्छी जमीन कम हो रही है, बिजली बनाने और कहीं-कहीं तो खेतों के लिए सिंचाई का इन्तजाम करने के लिए बाँधे गये बाँधों ने अच्छी उपजाऊ जमीन को डुबोया है। इस तरह सिकुड़ रही खेती की जमीन ने जो दबाव पैदा किया उसकी चपेट में चारागाह या वन भी आए हैं। वन सिमटें हैं तो उन जंगली जानवरों का सफाया होने लगा है जिनका यह घर था।

किसान नेता शरद जोशी ने खेतों के मामले में जिस इण्डिया और भारत के बीच एक टकराव की-सी हालत देखी है, पर्यावरण के सिलसिले में प्राकृतिक साधनों के अन्याय भरे बँटवारे में यह और भी भयानक हो उठती है। इसमें इण्डिया बनाम भारत तो मिलेगा, यानी शहर गाँव को लूट रहा है, तो शहर-शहर को भी लूट रहा है, गाँव-गाँव को भी और सबसे अन्त में यह बँटवारा लगभग हर जगह के आदमी और औरत के बीच भी होता है। उदाहरण के लिए दिल्ली में ही जमनापार के लोगों का पानी छीन कर दक्षिण दिल्ली की प्यास बुझाई जाती है, एक ही गाँव में अब तक 'बेकार' जा रहे जिस गोबर से गरीब का चूल्हा जलता था अब सम्पन्न की गोबर गैस बनने लगी है और घर के लिए पानी, चारा ईंधन जुटाने में हर जगह आदमी के बदले औरत को खपना पड़ता है। बिगड़ते पर्यावरण की इसी लम्बी सूची के साथ-ही-साथ सामाजिक अन्यायों की एक समानान्तर सूची भी बनती है। इन समस्याओं का सीधा असर बहुत से लोगों पर पड़ रहा है। पर क्या कोई इन समस्याओं से लड़ पाएगा? बिगड़ते पर्यावरण को सँवार न पाएँ तो फिलहाल कम-से-कम उसे और बिगड़ने से रोक पाएँगे क्या? इन सवालों का

जवाब ढूँढ़ने से पहले बिगड़ते पर्यावरण के मोटे-मोटे हिस्सों को टटोलना होगा। विकास की सभी गतिविधियाँ 'उद्योग' बन गयी हैं या बनती जा रही हैं। खेती आज अनाज पैदा करने का उद्योग है, बाँध बिजली बनाने या सिंचाई करने का उद्योग है, नगरपालिकाएँ शहरों को साफ पानी देने या उसका गन्दा पानी ठिकाने लगाने का उद्योग हैं। सचमुच जो उद्योग हैं वे अपनी जगह हैं ही। इन सभी तरह के उद्योगों से चार तरह का प्रदूषण हो रहा है। उद्योग छोटा हो या बड़ा, एक कमरे में चलने वाली मंदसौर की स्लेट-पैंसिल यूनिट हो या नागदा में बिड़ला परिवार की फैक्टरी या समाजवादी सरकार का कारखाना–इन सबमें भीतर का पर्यावरण कुछ कम-ज्यादा खराब रहता है। इसका शिकार वहाँ काम करने वाला मजदूर बनता है। वह संगठित है तो भी और असंगठित हुआ तो और भी ज्यादा। फिर इन सबसे बाहर निकलने वाले कचरे से बाहर का प्रदूषण फैल रहा है। यह जहरीला धुआँ, गन्दा पानी वगैरह है। इसकी शिकार उस उद्योग के किनारे या कुछ दूर तक रहने वाली आबादी होती है। तीसरी तरह का प्रदूषण इन उद्योगों से पैदा हो रहे पक्के माल का है। जैसे रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाएँ आदि। चौथा प्रदूषण वहाँ होता है जहाँ से इन उद्योगों का कच्चा माल आता है। इनमें से पहले तीन तरह के प्रदूषणों का कुछ हल निकल सकता है, वह आज नहीं निकल पाया है तो इसका कारण है मजदूर और नागरिक आन्दोलनों की सुस्ती। आज भी परम्परागत मजदूर आन्दोलन उद्योग के भीतर के प्रदूषण को अपने संघर्ष का मुद्दा नहीं बना पाया है। ज्यादातर लड़ाई मजदूरी वेतन या बोनस को लेकर होती है। इसलिए कभी प्रदूषण का सवाल उठे भी तो इसे भी पैसे से तोल लिया जाता है। मध्य प्रदेश में सारणी बिजली घर की मजदूर यूनियन ने धुआँ कम करने की माँग के बदले धुआँ-भत्ता माँगा है। दूसरा प्रदूषण उद्योग से बाहर निकलने वाली चीजों का है। अगर उससे पीड़ित नागरिक संगठित हो जाएँ तो उससे भी लड़ा जा सकता है। पक्के माल के रूप में ही सामने आ रहे प्रदूषण से लड़ना जरा कठिन होगा, क्योंकि इसके लिए उन चीजों की खपत को ही चुनौती देनी पड़ेगी। लेकिन विकास के इस ढाँचे के बने रहते चौथी तरह के प्राकृतिक साधनों के कच्चे माल के रूप में दोहन के कारण हो रहे प्रदूषण से लड़ना सबसे कठिन काम होगा क्योंकि एक तो इस तरह का प्रदूषण

हमारे आस-पास नहीं काफी दूर होता है और उसका जिन पर असर पड़ता है–वनवासियों पर, मछुआरों पर, बंजारा समुदायों पर, छोटे किसानों, भूमिहीनों पर, वे सब हमारी-आपकी आँखों से ओझल रहते हैं। ऐसी जगहों से भी विरोध की कुछ आवाजें उठ जरूर रही हैं पर उनकी कोशिशें पूरे समाज की धारा के एकदम विपरीत होने के कारण जल्दी दब जाती हैं, दबा दी जाती हैं। ऐसे आन्दोलन अक्सर अपने बचपन में ही असमय मर जाते हैं। फिर भी पर्यावरण के बचाव के लिए उठी इन छोटी-मोटी आवाजों ने सरकार के कान खड़े किये हैं। पर्यावरण की वास्तविक चिन्ता की फुसफुसाहट बढ़े तो उसे नकली चिन्ता के एक लाउडस्पीकर से भी दबाया जा सकता है। बेमन से कुछ विभाग, कुछ कानून बना दिए गये हैं। उनको लागू करने वाला ढाँचा जन्म से ही अपाहिज रखा जाता है। जल प्रदूषण नियन्त्रण कानून को बने 10 साल हो जाएँगे। पर आज तक उसने नदियों को गिरवी रख रहे उद्योगों को, नगरपालिकाओं को कोई चुनौती भी नहीं दी है। पहले केन्द्र में और अब सभी राज्यों में खुल रहे पर्यावरण विभाग भी उन थानों से बेहतर नहीं हो पाएँगे जो अपराध कम करने के लिए खुलते हैं।

पर्यावरण की इस चिन्ता ने पिछले दिनों पर्यावरण शिक्षा का भी नारा दिया है। विश्वविद्यालयों में तो यह शिक्षा शुरू हो गयी है, अब स्कूलों में भी यह लागू होने वाली है। पर इस मामले में शिक्षा और चेतना का फर्क करना होगा। पर्यावरण की चेतना चाहिए, शिक्षा या डिग्री नहीं। चेतना बिगड़ते पर्यावरण के कारणों को ढूँढ़ने और उनसे लड़ने की ओर ले जाएगी, महज शिक्षा विशेषज्ञ तैयार करेगी जो अन्ततः उन्हीं अपाहिज विभागों में नौकरी पा लेंगे। नकली चिन्ता का यह दायरा हजम किए जा रहे पर्यावरण से ध्यान हटाने के लिए ऐसी ही दिखावटी चीजें, हल और योजनाएँ सामने रखता जाएगा। जब तक पर्यावरण की चेतना नहीं जागती, जब तक विकास के इस देवता पर चढ़ाया जा रहा सिन्दूर नहीं उतारा जाता तब तक पर्यावरण लूटा जाता रहेगा, उस पर टिकी तीन-चौथाई आबादी की जिन्दगी बद से बदतर होती जाएगी। लेकिन विकास की इस धारा को चुनौती देकर विकल्प खोजना एक बड़ा सवाल है। अन्याय, गैरबराबरी से लड़ने की प्रेरणा देने वाली मार्क्सवाद विचाराधाराओं तक में विकास के उसी ढाँचे को अपनाया गया है जो पर्यावरण के कायमी उपयोग ढूँढ़े बिना पर्यावरण बिगाड़ता ही जाएगा। गरीबी-गैरबराबरी बढ़ेगी, सामाजिक अन्यायों की बाढ़ आएगी। समाज का एक छोटा-सा लेकिन ताकतवर भाग बड़े हिस्से का हक छीन कर पर्यावरण खाता रहेगा, बीच-बीच में दिखाने के लिए कुछ संवर्धन की बात भी करता रहेगा। खाने और दिखाने के इस फर्क को समझे बिना 5 जून के समारोह या पूरे साल भर चलने वाली चिन्ता एक कर्मकाण्ड बनकर रह जाएगी।

■

महाविनाश के विश्वव्यापी खतरे

अनिल प्रकाश

पहाड़ों पर जमा बर्फ पहले की तुलना में ज्यादा तेजी से पिघलता जा रहा है। परिणामतः समुद्र का तल ऊँचा होता जा रहा है। अंटार्कटिक प्रायद्वीप का लगभग 8 से 10 हजार वर्ग किलोमीटर से भी ज्यादा बर्फ का पहाड़ पानी बन चुका है। इसी प्रकार भारत के हिमालय फ्रांस के आल्प्स तथा अन्य देशों के बर्फ के पहाड़ तेजी से पिघलने लगे हैं। पिछले 115 साल के दौरान समुद्र का तल 20 सेंटीमीटर बढ़ा है और अभी प्रतिवर्ष .2 से .3 सेंटीमीटर बढ़ रहा है।

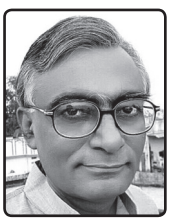

लेखक गंगा मुक्ति आन्दोलन के संस्थापक और प्रखर विचारक हैं।

+919304549662

anilprakashganga@gmail.com

इस वर्ष सन 1924 में भारत में भीषण गर्मी आयी। तापमान बढ़ कर 48 डिग्री सेल्सियस को भी पार करने लगा। अरब देशों में ही इतनी गर्मी रहती है। बढ़ते तापमान की चपेट में पूरी दुनिया आ गयी। भारत में लू से मरने वालों की संख्या हर साल सैकड़ों में रहती थी। इस बार हजारों-हजार लोग लू से मरे। इंग्लैण्ड जैसे अत्यधिक ठण्डे देश में गर्मी के कारण वहाँ के स्कूल बन्द करने पड़े। भारत में अमीरों के बच्चों के लिए जो महँगे स्कूल चलते हैं, उनके क्लासरूम एयरकण्डीशन होते हैं। ठण्डे मुल्क में एयर कण्डीशनर की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। भीषण गर्मी से खेती चौपट होती है, पेड़ पौधे मुरझाते हैं। जंगलों में आग लगती है। तालाब और नदियाँ सूखने लगती हैं। इसके साथ ही भू जल स्तर काफी नीचे चला जाता है। कुँए और तालाब सूखने लगते हैं। मनुष्य के साथ-साथ तमाम जीव-जन्तु, पशु और पक्षियाँ भी मरने लगती हैं।

एक समय था जब धुआँ को प्रगति और विकास का प्रतीक माना जाता था। अब दुनिया भर के वैज्ञानिक कह रहे हैं कि वातावरण में बढ़ते धुएँ से धरती का सम्पूर्ण वातावरण गर्म होता जा रहा है और यह मानव जीवन और हमारी दुनिया को महाविनाश की ओर ले जा रहा है। दिसम्बर 1997 की शुरूआत में जापान की प्राचीनकालीन राजधानी क्योटो में आयोजित विश्व जलवायु सम्मेलन में अधिकांश राष्ट्रों के सरकारी प्रतिनिधियों ने 11 दिनों तक गम्भीर चर्चा की थी और उस दौरान तय किया था कि वर्ष 1990 में दुनिया में जितना धुआँ कार्बनडाई ऑक्साइड समेत (छह ग्रीन हाउस गैस) वातावरण में छोड़ा जाता था, उस स्तर से 5.2 प्रतिशत की कटौती की जाएगी। कटौती का यह काम सन 2008 से 12 के बीच पूरा कर लेना था। यूरोपीय यूनियन के देश कम से कम 15 प्रतिशत कटौती की माँग कर रहे थे लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका व अन्य देश इसके लिए तैयार नहीं थे।

अमेरिका विश्व का सबसे बड़ा प्रदूषक है। अकेले वातावरण में लगभग 25 प्रतिशत से ज्यादा धुआँ वातावरण में छोड़ता है। हर साल उसकी मात्रा में 6 प्रतिशत वृद्धि भी होती है। क्योटो में तत्कालीन अमेरिकी उपराष्ट्रपति अलगोर भी मौजूद थे और उनकी उपस्थिति में संयुक्त राज्य अमेरिका को इसके लिए राजी होना पड़ा था कि धुआँ छोड़ने में वर्ष 1990 से 7 प्रतिशत की कटौती करेगा। जापान 6 प्रतिशत और यूरोपीय यूनियन 8 प्रतिशत की कटौती के लिए तैयार थे। औद्योगिक रूप से विकसित माने जाने वाले कुल 38 राष्ट्रों को कटौती के दायरे में लाया गया था। उस वक्त चीन, भारत तथा अन्य विकासशील राष्ट्र